

राजप्रश्नीय सूत्र में चार्वाक मत का प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा

जैन आगमों में चार्वाक दर्शन के देहात्मवादी दृष्टिकोण के समर्थन में और उसके खण्डन के लिए तर्क प्रस्तुत करने वाला सर्वप्रथम राजप्रश्नीयसूत्र है। यही एक मात्र ऐसा प्राकृत आगम ग्रन्थ है जो चार्वाक दर्शन के उच्छेदवाद और तज्जीवतच्छरीरवाद के पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों के सन्दर्भ में अपने तर्क प्रस्तुत करता है। राजप्रश्नीय में चार्वाकों की इन मान्यताओं के पूर्व पक्ष को और उनका खण्डन करने वाले उत्तर पक्ष को निम्न रूप में प्रस्तुत किया गया है -

राजा पयेसी कहता है, हे केशीकुमार श्रमण ! मेरे दादा अत्यन्त अधार्मिक थे। आपके कथनानुसार वे अवश्य ही नरक में उत्पन्न हुए होंगे। मैं अपने पितामह को अत्यन्त प्रिय था, अतः मेरे पितामह को आकर मुझसे यह कहना चाहिए कि हे पौत्र ! मैं तुम्हारा पितामह था और इसी सेयंविया (श्वेताम्बिका) नगरी में अधार्मिक कृत्य करता था यावत् प्रजाजनों से राज-कर लेकर भी यथोचित रूप में उनका पालन-रक्षण नहीं करता था। इस कारण अतीव कलुषित पापकर्मों का संचय करके मैं नरक में उत्पन्न हुआ हूँ। किन्तु हे पौत्र ! तुम अधार्मिक मत होना, प्रजाजनों से कर लेकर उनके पालन-रक्षण में प्रमाद मत करना और न बहुत से मलिन पाप कर्मों का उपार्जन-संचय ही करना।

देहात्मवादियों के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने निम्न समाधान प्रस्तुत किया - हे राजन ! जिस प्रकार तुम अपने अपराधी को इसलिए नहीं छोड़ देते कि वह जाकर अपने पुत्र-मित्र और ज्ञातिजनों को यह बताये कि मैं अपने पाप के कारण दण्ड भोग रहा हूँ, तुम ऐसा मत करना, उसी प्रकार नरक में उत्पन्न तुम्हारे पितामह तुम्हें प्रतिबोध देने के लिए आना चाहकर भी यहाँ आने में समर्थ नहीं हैं। नारकीय जीव निम्न चार कारणों से मनुष्य लोक में नहीं आ सकते। सर्वप्रथम तो उनमें नरक से निकल कर मनुष्य लोक में आने की सामर्थ्य ही नहीं होती। दूसरे नरकपाल उन्हें नरक से बाहर निकलने की अनुमति भी नहीं देते। तीसरे नरक सम्बन्धी असातावेदनीय कर्म के क्षय न होने से वे वहाँ से नहीं निकल पाते। चौथे उनका नरक सम्बन्धी आयुष्य कर्म जब तक क्षीण नहीं होता

तब तक वे वहां से नहीं आ सकते। अतः तुम्हारे पितामह के द्वारा तुम्हें आकर प्रतिबोध न दे पाने के कारण यह मान्यता मत रखो कि जीव और शरीर एक ही हैं, अपितु यह मान्यता रखो की जीव अन्य है और शरीर अन्य है। स्मरण रहे कि दीघनिकाय में भी नरक से मनुष्य लोक में न आ पाने के इन्हीं चार कारणों का उल्लेख किया गया है। केशीकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने दूसरा तर्क प्रस्तुत किया ।

हे श्रमण ! मेरी दादी अत्यन्त धार्मिक थीं। आप लोगों के मतानुसार वह निश्चित ही स्वर्ग में उत्पन्न हुई होंगी। मैं अपनी दादी का अत्यन्त प्रिय था अतः उसे मुझे आकर यह बताना चाहिए कि, हे पौत्र ! अपने पुण्य कर्मों के कारण मैं स्वर्ग में उत्पन्न हुई हूँ। तुम भी मेरे समान धार्मिक जीवन बिताओ, जिससे तुम भी विपुल पुण्य का उपार्जन कर स्वर्ग में उत्पन्न हो। क्योंकि मेरी दादी ने स्वर्ग से आकर मुझे ऐसा प्रतिबोध नहीं दिया अतः मैं यही मानता हूँ कि जीवन और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं है।

राजा के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने निम्न तर्क प्रस्तुत किया - हे राजन ! यदि तुम स्नान, बलि कर्म और कौतुकमंगल करके देवकुल में प्रविष्ट हो रहे हो, उस समय कोई पुरुष शौचालय में खड़ा होकर यह कहे कि, हे स्वामिन् ! यहाँ आओ ! कुछ समय के लिए यहाँ बैठो, खड़े होओ। तो क्या तुम उस पुरुष की बात को स्वीकार करोगे? निश्चय ही तुम उस अपवित्र स्थान पर जाना नहीं चाहोगे। इसी प्रकार हे राजन ! देवलोक में उत्पन्न देव वहाँ के दिव्य काम भोगों में इतने मूर्च्छित, गृद्ध और तल्लीन हो जाते हैं कि वे मनुष्य लोक में आने की इच्छा नहीं करते। दूसरे देवलोक सम्बन्धी दिव्य भोगों में तल्लीन हो जाने के कारण उनका मनुष्य सम्बन्धी प्रेम व्युच्छिन्न हो जाता है अतः वे मनुष्य लोक में नहीं आ पाते । तीसरे देवलोक में उत्पन्न वे देव वहाँ के दिव्य काम भोगों में मूर्च्छित या तल्लीन होने के कारण अभी जाता हूँ - अभी जाता हूँ, ऐसा सोचते रहते हैं किन्तु उतने समय में अल्पायुष्य वाले मनुष्य कालधर्म को प्राप्त हो जाते हैं। (क्योंकि देवों का एक दिन-रात मनुष्य लोक के सौ वर्ष के बराबर होता है, अतः एक दिन का भी विलम्ब होने पर यहाँ मनुष्य कालधर्म को प्राप्त हो जाता है) पुनः मनुष्य लोक इतना दुर्गन्धित और अनिष्टकर है कि उसकी दुर्गन्ध के कारण देव मनुष्य लोक में आना नहीं चाहते। अतः तुम्हारी दादी के स्वर्ग से नहीं आने पर यह श्रद्धा रखना उचित नहीं है कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

केशीकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया। राजा ने कहा कि मैंने एक चोर को जीवित ही एक लोहे की कुम्भी में बन्द करवा कर अच्छी तरह से लोहे से उसका मुख ढक दिया फिर उस पर गरम लोहे और रांगे से लेप करा दिया तथा उसकी देख-रेख के लिए अपने विश्वास पात्र पुरुषों को रख दिया। कुछ दिन पश्चात् मैंने उस कुम्भी को खुलवाया तो देखा कि वह मनुष्य मर चुका था किन्तु उसे कुम्भी में कोई भी छिद्र, विवर या दरार नहीं थी जिससे उसमें बन्द पुरुष का जीव बाहर निकला हो, अतः जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

इसके प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने निम्न तर्क प्रस्तुत किया -

एक ऐसी कूटागारशाला जो अच्छी तरह से आच्छादित हो, उसका द्वार गुप्त हो, यहाँ तक कि उसमें कुछ भी प्रवेश नहीं कर सके, और उस कूटागारशाला में कोई व्यक्ति जोर से भेरी बजाये तो तुम बताओ कि वह आवाज बाहर सुनायी देगी कि नहीं? निश्चय ही वह आवाज सुनायी देगी। अतः जिस प्रकार शब्द अप्रतिहत गतिवाला है उसी प्रकार आत्मा भी अप्रतिहत गतिवाला है। अतः तुम यहा श्रद्धा करो कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न हैं। (ज्ञातव्य है कि अब यह तर्क विज्ञान सम्मत नहीं रह गया है, यद्यपि आत्मा की अमूर्तता के आधार पर भी राजा के उपरोक्त तर्क का प्रत्युत्तर दिया जा सकता है)। केशीकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया जो इस प्रकार है-

मैंने एक पुरुष को प्राण रहित करके एक लौहकुम्भी में सुलवा दिया तथा ढक्कन से उसे बन्द करके उस पर रांगे का लेप करवा दिया; कुछ समय पश्चात् जब उस कुम्भी को खोला गया तो उसे कृमिकुल से व्याप्त देखा, किन्तु उसमें कोई दरार या छिद्र नहीं था जिससे उसमें जीव प्रवेश करके उत्पन्न हुए हों। अतः जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

राजा के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने अग्नि से तपाये लोहे के गोले का उदाहरण दिया। जिस प्रकार लोहे के गोले में छेद नहीं होने पर भी अग्नि उसमें प्रवेश कर जाती है, उसी प्रकार जीव भी अप्रतिहत गति वाला होने से कहीं भी प्रवेश कर जाता है।

केशीकुमार श्रमण का यह प्रत्युत्तर सुनकर राजा ने पुनः एक नया तर्क प्रस्तुत किया। उसने कहा कि, मैंने एक व्यक्ति को जीवित रहते हुए और मरने के बाद दोनों ही दशाओं में तौला किन्तु दोनों के तौल में कोई अन्तर नहीं था। यदि मृत्यु के बाद आत्मा उसमें से निकली होती तो उसका वजन कुछ कम

अवश्य होना चाहिए था। इसके प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने वायु से भरी हुई और वायु से रहित मशक के तौल के बराबर होने का उदाहरण दिया और यह बताया कि जिस प्रकार वायु अगुरुलघु है उसी प्रकार जीव भी अगुरुलघु है। अतः तुम्हारा यह तर्क युक्तिसंगत नहीं है कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं। (अब यह तर्क भी वैज्ञानिक दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं रह गया है क्योंकि वैज्ञानिक यह मानते हैं कि वायु में वजन होता है। दूसरे यह भी प्रयोग करके देखा गया है कि जीवित और मृत शरीर के वजन में अन्तर पाया जाता है (उस युग में सूक्ष्मतुला के अभाव के कारण यह अन्तर ज्ञात नहीं होता रहा होगा)।

राजा ने फिर एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया और कहा कि मैंने एक चोर के शरीर के विभिन्न अंगों को काटकर, चीरकर देखा लेकिन मुझे कहीं भी जीव नहीं दिखाई दिया। अतः शरीर से पृथक् जीव की सत्ता सिद्ध नहीं होती। इसके प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने उसे निम्न उदाहरण देकर समझाया -

“हे राजन ! तू बड़ा मूढ़ मालूम होता है, मैं तुझे एक उदाहरण देकर समझाता हूँ। एक बार कुछ वनजीवी साथ में अग्नि लेकर एक बड़े जंगल में पहुँचे। उन्होंने अपने एक साथी से कहा, हे देवानुप्रिय ! हम जंगल में लकड़ी लेने जाते हैं तू इस अग्नि से आग जलाकर हमारे लिए भोजन बनाकर तैयार रखना। यदि अग्नि बुझ जाय तो लकड़ियों को घिस कर अग्नि जला लेना। संयोगवश उसके साथियों के चले जाने पर थोड़ी ही देर बाद आग बुझ गई। अपने साथियों के आदेशानुसार वह लकड़ियों को चारो ओर से उलट-पलट कर देखने लगा लेकिन आग कहीं नजर नहीं आई। उसने अपनी कुल्हाड़ी से लकड़ियों को चीरा, उनके छोटे-छोटे टुकड़े किये किन्तु फिर भी आग दिखाई नहीं दी। वह निराश होकर बैठ गया और सोचने लगा कि देखो, मैं अभी तक भोजन तैयार नहीं कर सका। इतने में जंगल में से उसके साथी लौटकर आ गये, उसने उन लोगों से सारी बातें कही। इस पर उनमें से एक साथी ने शर बनाया और शर को अरणि के साथ घिस कर अग्नि जलाकर दिखायी और फिर सबने भोजन बना कर खाया। हे पर्येसी ! जैसे लकड़ी को चीरकर आग पाने की इच्छा रखने वाला उक्त मनुष्य मूर्ख था, वैसे ही शरीर को चीरकर जीव देखने की इच्छा वाले तुम भी कुछ कम मूर्ख नहीं हो। जिस प्रकार अरणि के माध्यम से अग्नि अभिव्यक्त होती है उसी प्रकार आत्मा भी शरीर के माध्यम से अभिव्यक्त होती है किन्तु शरीर को चीरकर उसे देखने की प्रक्रिया उसी प्रकार मूर्खतापूर्ण है जैसे अरणि को चीर फाड़ कर अग्नि को देखने की प्रक्रिया। अतः हे राजा यह श्रद्धा करो कि आत्मा अन्य है और शरीर अन्य है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि ये सभी तर्क वैज्ञानिक युग में इतने सबल नहीं रह गये हैं, किन्तु ई.पू. सामान्यतया चार्वाकों के पक्ष के समर्थन में और उनका खण्डन करने के लिये ये ही तर्क प्रस्तुत किये जाते थे। अतः चार्वाक दर्शन के ऐतिहासिक विकासक्रम की दृष्टि से इनका अपना महत्त्व है। जैन और बौद्ध परम्परा में इनमें अधिकांश तर्क समान होने से इनकी ऐतिहासिकता, प्रामाणिकता और प्राचीनता भी स्वतः सिद्ध है।

जैन साहित्य में दार्शनिक दृष्टि से जहाँ तक चार्वाक दर्शन के तर्कपुरस्सर प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा का प्रश्न है सर्वप्रथम उसे आगमिक व्याख्या साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विशेषावश्यकभाष्य (ईस्वी सन् की सातवीं शती) में देखा जा सकता है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा ईस्वी सन् की छठी शती में प्राकृत भाषा में निबद्ध इस ग्रन्थ की लगभग ५०० गाथायें तो आत्मा, कर्म, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, बन्धन-मुक्ति आदि अवधारणाओं की तार्किक समीक्षा से सम्बन्धित हैं। इस ग्रन्थ का यह अंश गणधरवाद के नाम से जाना जाता है और अब स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित भी हो चुका है। प्रस्तुत निबन्ध में इस समग्र चर्चा को समेट पाना सम्भव नहीं था अतः इस निबन्ध को यहीं विराम दे रहे हैं।

